

त

तात्त्विकतावाद

(Essentialism)

तात्त्विकतावाद के अनुसार वस्तुओं, व्यक्तियों, समूहों और समुदायों में कुछ ऐसे अनिवार्य तत्त्व निहित होते हैं जिनके आधार पर ही हर सम्भव परिस्थिति और देशकाल में उनके अस्तित्व के सार की रचना होती है। इन अनिवार्य तत्त्वों की अनायास तत्त्वों के मुकाबले वस्तुगत पहचान की जा सकती है। सत्रहवीं सदी में जॉन लॉक ने कहा था कि वस्तुओं के भीतर छिपा हुआ, ठोस और असली तत्त्व होता है जिससे बने 'न्यूनतम सार' के आधार पर हम उन्हें पहचानते और समझते हैं। लेकिन आगे चल कर तात्त्विकतावादियों की निगाह में अनिवार्यता का पहलू इतना प्रबल होता चला गया कि वे उस आधार पर बनायी गयी परिभाषा को अस्तित्व की पूर्व-शर्त मानने लगे। मसलन, अगर उन्होंने एक बार यह तय कर लिया कि एक ख़ास रंग, वजन, कठोरता और द्रवणांक जैसे अनिवार्य तत्त्वों के आधार पर स्वर्ण नामक धातु की रचना होती है, तो उन अनिवार्य विशेषताओं से होने वाले ज़रा से भी विचलन के आधार पर वे किसी धातु को सोना मानने से इनकार कर सकते हैं। इस अवधारणा का इतिहास बताता है कि वस्तुओं में तात्त्विकता देखने का आग्रह शुरू में काफी-कुछ सीमित क्रिस्म का था। तात्त्विकतावाद की अवधारणा ने उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श, नारीवादी विमर्श, साहित्य-सिद्धांत और संस्कृति-विमर्श में विचारोत्तेजक बहसों को जन्म दिया है।

उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श तात्त्विकतावाद के आधार पर अस्मिता-निर्धारण का विरोध करता है। देरिदा, लकॉ और

फूको जैसे उत्तर-संरचनावादियों द्वारा प्रवर्तित सिद्धांतों का सहारा लेकर इस विमर्श ने दिखाया कि किस तरह तात्त्विकतावाद का सहारा ले कर उपनिवेशितों का अन्यीकरण किया गया ताकि उनके मुकाबले औपनिवेशिक संस्कृति की श्रेष्ठता साबित की जा सके। यह विमर्श केवल यहीं तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उसने राष्ट्रवाद और नस्लवाद में तात्त्विकतावादी पहलुओं की आलोचना तक अपने तर्कों का विस्तार किया। साठ और सत्तर के दशक में राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों ने साम्राज्यवादी और औपनिवेशिक विमर्श द्वारा क्षतिग्रस्त की गयी स्थानीय अस्मिताओं की पुनर्स्थापना के लिए तात्त्विकतावाद का सहारा लिया। इन संघर्षों की कोशिश यह थी कि उपनिवेशित होने से पहले की संस्कृतियों की श्रेष्ठता प्रमाणित करके खोयी हुयी गरिमा और आत्म-सम्मान को फिर से प्राप्ति की जाए।

गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक ने इस प्रक्रिया को अपने विख्यात लेख 'कैन द सबाल्टर्न स्पीक?' में प्रश्नांकित किया है। वे कहती हैं कि सबाल्टर्न यानी उत्पीड़ित का अपने उत्पीड़क के खिलाफ़ बोलना अपने-आप में इतनी सीधी-सादी प्रक्रिया नहीं है। उत्पीड़ित अपनी जिस अनिवार्य प्राक्-औपनिवेशिक अस्मिता का दावा करता है, उसकी रचना पर भी औपनिवेशिक विमर्शों का असर होता है। स्पिवाक के इस विश्लेषण का यह नतीजा भी निकाला गया कि अंतिम विश्लेषण में सबाल्टर्न के पास अपनी स्वतंत्र और सम्प्रभु वाणी प्राप्त करने का कोई तरीका नहीं है। इस नकारात्मक व्याख्या की प्रतिक्रिया में स्पिवाक ने एक तरह के 'रणनीतिक तात्त्विकतावाद' की वकालत की ताकि औपनिवेशिक और नव-औपनिवेशिक उत्पीड़न के प्रभावों से छुटकारा पाने के एक अस्थायी तरीके के रूप में तात्त्विकतावाद का लाभ उठाया जा सके।

सिद्धांतकारों का खयाल था कि उपनिवेशवादी वर्चस्व से छुटकारे का यह प्रयास उत्पीड़क और उत्पीड़ित की श्रेणियों के महज उलट-फेर तक सीमित नहीं रहना चाहिए। इस द्विभाजन के बुनियादी तर्क को आलोचना का निशाना बनाना ज़रूरी है वरना ज़्यादा से ज़्यादा होगा यह कि औपनिवेशिक प्रभुओं की जगह नये देशज प्रभु बैठ जाएँगे जिनकी भूमिका नव-औपनिवेशिक कठपुतलियों जैसी होगी। उत्तर-औपनिवेशिक राज्यों के उदय पर टिप्पणी करते हुए एडवर्ड सईद ने दावा किया है कि फ्रांज़ फ़ानो जैसे उपनिवेशवाद विरोधी सिद्धांतकार कहीं न कहीं तात्त्विकतावादी श्रेणियों का प्रयोग करने में निहित खतरों से वाकिफ़ थे इसलिए उनके विमर्श में राष्ट्रवादी और नस्लवादी तात्त्विकतावाद की आलोचना भी मिलती है।

तात्त्विकतावाद के प्रश्न पर नारीवादी विमर्श के दायरे में भी जम कर विचार हुआ है। नारीवाद की दूसरी लहर के दौरान कई विद्वानों ने स्त्री और पुरुष के बीच लिंग-भेद की जीववैज्ञानिक व्याख्याओं को रेखांकित किया था। तात्त्विकतावाद नारीवाद के दो प्रमुख ध्रुवों में से एक है। दूसरा ध्रुव है सोशल कंस्ट्रक्टिविज़म या सामाजिक रचनावाद। तात्त्विकतावाद स्त्री को उसके अनिवार्य गुणों की रोशनी में ही देखना चाहता है। ज़ाहिर है कि इन अनिवार्य गुणों में से बहुत से गुण स्त्री की उस विशिष्ट जैविकता की देन हैं, जो पुरुष को नसीब नहीं हो सकती। इसलिए अक्सर इस तात्त्विकतावाद को बायोलॉजिकल इसेंशियलिज़म भी कहा जाता है। सुलामिथ फ़ायरस्टोन ने सत्तर के दशक में दावा किया कि अगर स्त्रियाँ प्रजनन क्षमता के कारण अपने ऊपर थोपे गये उत्पीड़नों से बचना चाहती हैं तो उन्हें प्रजनन प्रौद्योगिकियों का सहारा लेकर मातृत्व की जंजीरों से ख़ुद को मुक्त करना चाहिए। दूसरी ओर मैरी डाली का कहना था कि जैविक स्त्रीत्व जैविक पुरुषत्व से अनिवार्यतः श्रेष्ठ है। इसलिए स्त्री के जैविक गुणों को ही उसके लैंगिक सार के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। फ़ायरस्टोन और डाली के विमर्शों से ज़ाहिर है कि तात्त्विकतावाद का नारीवादी विमर्श पर काफ़ी अलग-अलग तरह का असर पड़ा है।

तात्त्विकतावाद कहता है कि स्त्री होती है। सामाजिक रचनावाद कहता है कि स्त्री होती नहीं समाज और परिस्थितियाँ उसे बनाते हैं। नारीवाद के इन दो ध्रुवों में आसान सा लगने वाला यह विभाजन काफ़ी नफ़ीस क्रिस्म का और बड़ी हद तक परस्परव्यापी है। इसे सरलीकृत ढंग से लेने पर समझ की समस्याएँ पैदा हो सकती हैं। सामाजिक रचनावादी कभी भी तात्त्विकतावादी लग सकते हैं और तात्त्विकतावादी उनसे भी ज़्यादा बुलंद स्वर में कह सकते हैं कि औरत औरत होने के साथ बहुत कुछ और भी है।

इसमें कोई शक नहीं कि केवल स्त्री ही माँ बन सकती है। पुरुष सब कुछ हो सकता है, पर माँ नहीं बन सकता। मातृत्व दोनों लिंगों के बीच अंतिम और अनुलंघनीय जैविक विभाजन है। स्त्री की प्रजननकारी क्षमता ही वह मक़ाम है जहाँ पर पुरुष स्त्री की श्रेष्ठता स्वीकारने के लिए बाध्य है। लेकिन क्या स्त्री की ऐसी प्रकृतिप्रदत्त और निर्विवाद ख़ूबी उसे एक सत्तामूलक हस्ती बना सकती है? क्या माँ की सत्ता के नेतृत्व में पितृसत्ता के खिलाफ़ संघर्ष चलाया जा सकता है? इस सवाल का जवाब नारीवाद के दोनों ध्रुव अलग-अलग तरह से देते हैं। चूँकि मातृत्व के साथ लालन-पालन की ज़िम्मेदारियाँ भी अनिवार्य रूप से जुड़ी हैं (जिनके कारण स्त्री घर की चारदीवारी में, प्राइवेट दायरे में कैद हो जाती है), इसलिए नारीवादियों ने औरत की सबसे बड़ी जैविक विशेषता यानी मातृत्व को उसके उत्पीड़न का एक स्रोत भी बताया है। आख़िरकार पुरुषत्व और स्त्रीत्व की मौजूदा सामाजिक संरचनाएँ मातृत्व की सक्रिय हिस्सेदारी और उसके इर्द-गिर्द ही बनती हैं। इसीलिए सामाजिक रचनावादी विदुषियाँ स्त्री होने और माँ होने को अलग-अलग करके देखना पसंद करती हैं। हालाँकि तात्त्विकतावादी विदुषियों को 'मातृमूलक नैसर्गिकता' बहुत प्रिय है, पर ख़ासे अंदरूनी बहस-मुबाहिसे के बाद नारीवादी विद्वत्ता अब इस निष्कर्ष पर पहुँच गयी लगती है कि गर्भ धारण करने और बच्चा पैदा करने को अलग करके समझना चाहिए। लालन-पालन, उसके सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ और अन्य संबंधित पारिवारिक गतिविधियों का आकलन अलग से किया जाना चाहिए। ऐसा करते ही मातृत्व का अनुभव उसके जैविक दायरे से निकल कर ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विविधता में प्रकट होने लगता है। वेश्या का मातृत्व, गृहिणी का मातृत्व, एक परम्परानिष्ठ स्त्री का मातृत्व, एक आधुनिक कामकाजी स्त्री का मातृत्व, समलैंगिक स्त्री का मातृत्व और गोद से बच्चा छिन जाने वाली स्त्री का मातृत्व एक ही श्रेणी में डाले जाने वाली चीज़ नहीं रह जाता। मातृत्व के महा-आख्यान का यह विखण्डन नारीवादी तात्त्विकतावाद की प्रभावकारिता को कमज़ोर कर देता है।

एड्रियाने रिच ने नारीवाद की इसी समस्या का सूत्रीकरण करते हुए कहा था कि 'पालक' की भूमिका स्त्री पर उसकी एक विशेष ख़ूबी के तौर पर सरलीकृत ढंग से चस्पाँ कर देना ख़तरनाक है। रिच कहती हैं कि पुरुष की बलात्कारी और योद्धा मानसिकता का प्रतिकार करने के लिए मातृमूलक ख़ूबियों पर जोर देना अलग बात है, लेकिन यह तुलना उस समय तक बोज़ बनी रहगी जब तक स्त्री के इस सर्वाधिक उदार और संवेदनशील आयाम को ही एक लीवर की तरह इस्तेमाल करके उसे नियंत्रित किया जाता रहेगा।

देखें : गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, उत्तर-औपनिवेशिकता, जाक देरिदा, जाक लकाँ, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, मिशले पॉल फ़ूको-1 और 2.

संदर्भ

1. डी. फुस (1989), *इसेंशियली स्पीकिंग : फ़ेमिनिज्म, नेचर ऐंड डिफ़रेंस*, रॉटलेज, लंदन.
2. गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक (1988), *इन अदर वर्ल्ड्स : एसेज इन कल्चरल पॉलिटिक्स*, रॉटलेज, न्यूयॉर्क.
3. एस. क्रिष्के (1972), *नेमिंग ऐंड नेसेसिटी, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, मैसाचुसेट्स*.
4. एडवर्ड सर्ईद (1993), *कल्चर ऐंड इम्पीरियलिज्म*, विंटेज, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

तमिलनाडु

(Tamilnadu)

भारत के दक्षिणी भाग में स्थित राज्य तमिलनाडु को स्वतंत्रता से पहले मद्रास प्रेसीडेंसी के रूप में जाना जाता था। 1950 में मद्रास प्रेसीडेंसी भारतीय गणराज्य का मद्रास राज्य बन गयी और अपने वर्तमान रूप में इसका गठन 1956 में हुआ। उस समय भी इसका नाम मद्रास ही रखा गया जो 1969 में बदल कर तमिलनाडु हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दौर की तमिलनाडु की राजनीति को तीन भागों में बाँटकर समझा जा सकता है। पहला, 1952-1967 तक का दौर जिसमें कांग्रेस का वर्चस्व रहा। दूसरा, 1967-1987 तक का दौर जिसमें कांग्रेस के वर्चस्व की विदाई हुई और राज्य की राजनीति मुख्य रूप से के. करुणानिधि और एम.जी. रामचंद्रन के व्यक्तित्वों पर सिमटी रही। तीसरा, 1988 से आज तक की राजनीति जिसे मुख्य रूप से के. करुणानिधि बनाम जे. जयललिता की संज्ञा दी जा सकती है। दिलचस्प बात यह है कि तमिलनाडु की राजनीति में शुरू से लेकर अब तक फ़िल्मी हस्तियों का बोलबाला रहा है। राजनीति और फ़िल्मों की ऐसी अन्योन्यक्रिया कहीं और मिलनी मुश्किल है। तमिलनाडु एक ऐसा राज्य है जहाँ भारत में सबसे पहले और सबसे मज़बूती से 'ब्राह्मण विरोध' की राजनीति स्थापित हुई। यहाँ पिछड़ी जातियों को उत्तर के मुक्काबले बहुत पहले ही आरक्षण दे दिया गया था। तमिलनाडु का महत्त्व इसलिए भी है क्योंकि शुरुआत में यहाँ भारत से अलग एक द्रविड़ राष्ट्र

की माँग की गयी लेकिन लोकतांत्रिक राजनीति की प्रक्रिया में वह माँग धीरे-धीरे शांत हो गयी। 1980 और 1990 के दशक में श्रीलंका के तमिल आंदोलन के प्रति तमिलनाडु के कुछ दलों की सहानुभूति रही, लेकिन ये दल भी पृथकतावादी राजनीति को हवा नहीं दे पाये। सबसे पहले इसी राज्य में कांग्रेस का वर्चस्व तक्ररीबन स्थायी रूप से ख़त्म हुआ। नब्बे के बाद के दौर में तमिलनाडु ने राष्ट्रीय स्तर की राजनीति में काफ़ी अहम भूमिका निभायी है।

चेन्नई राजधानी वाले इस राज्य के पश्चिम में केरल, उत्तर-पश्चिम में कर्नाटक, उत्तर में आंध्र प्रदेश, पूर्व में बंगाल की खाड़ी और केंद्र-शासित प्रदेश पांडिचेरी है। भारतीय प्रायद्वीप का सबसे दक्षिणी हिस्सा तमिलनाडु में ही स्थित है। इस बिंदु पर कन्याकुमारी शहर बसा हुआ है। यहाँ बंगाल की खाड़ी, अरब सागर और हिंद महासागर मिलते हैं। राज्य का कुल क्षेत्रफल 1,30,058 वर्ग किमी है। भारत के ग्यारहवें सबसे बड़े राज्य की 2011 की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या 7,21,38,958 है और इस लिहाज़ से यह भारत का सातवाँ सबसे बड़ा राज्य है। यहाँ का जनसंख्या घनत्व 554.7 व्यक्ति प्रति किमी है। तमिलनाडु की साक्षरता दर 80.3 प्रतिशत है और इस हिसाब से भारत में इसका स्थान ग्यारहवाँ है। 1986 तक तमिलनाडु की विधायिका द्वि-सदनीय हुआ करती थी। लेकिन 1986 में यहाँ विधान परिषद ख़त्म कर दी गयी, और अब भारत के अधिकांश राज्यों की तरह तमिलनाडु की विधायिका भी एक-सदनीय ही है। विधानसभा में सदस्यों की कुल संख्या 235 है। यहाँ से लोकसभा के 39 और राज्यसभा के 18 सदस्य चुने जाते हैं। चेन्नई में तमिलनाडु का उच्च न्यायालय स्थित है। तमिलनाडु की सरकारी भाषा तमिल है। यहाँ के तक्ररीबन नब्बे प्रतिशत लोग तमिलभाषी ही हैं। 2001 की जनगणना के अनुसार तमिलनाडु के 88.1 प्रतिशत लोग हिंदू हैं। यहाँ की जनसंख्या में ईसाई धर्म के लोगों का अनुपात 6.1 प्रतिशत और मुसलमामों को अनुपात 5.6 प्रतिशत है। यहाँ की जनसंख्या में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का अनुपात क्रमशः 19 प्रतिशत और एक प्रतिशत है।

आज़ादी से पहले तमिलनाडु ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत मद्रास प्रेसीडेंसी का एक भाग था। उस समय कांग्रेस ही इस क्षेत्र का मुख्य राजनीतिक दल थी। लेकिन बीसवीं सदी के दूसरे दशक से ही राज्य में क्षेत्रीय दलों की दावेदारी की शुरुआत हो गयी थी। शुरुआती द्रविड़ पार्टियों में से एक साउथ एशियन वेलफ़ेयर एसोसिएशन का गठन 1916 में हुआ। बाद में इसे जस्टिस पार्टी के नाम से जाना गया। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान तमिलनाडु से कई प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता हुए। इसमें चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और नाडर कामराज के नाम मशहूर हैं। प्रसिद्ध कवि सुब्रह्मण्य भारती को



तमिलनाडु : द्रविड़ आंदोलन का केंद्र

भारतीय राष्ट्रवाद का तमिल गायक माना जाता है। आज़ादी से पहले मद्रास प्रेसीडेंसी के तमिलभाषी इलाकों में ई.वी. रामस्वामी नायकर पेरियार के नेतृत्व में जातिगत भेदभाव और ब्राह्मणों के खिलाफ जुझारू आत्मसम्मान आंदोलन चलाया गया। 1937 में बनी राजगोपालाचारी के नेतृत्व वाली कांग्रेस की प्रांतीय सरकार द्वारा हिंदी को बाध्यकारी बनाये जाने के फ़ैसले का भी पेरियार और जस्टिस पार्टी ने जबर्दस्त विरोध किया। दरअसल 'ब्राह्मण विरोध' और 'हिंदी विरोध' ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दौर में तमिलनाडु की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1944 में पेरियार ने इस पार्टी का नाम बदलकर द्रविड़ कजगम कर लिया। द्रविड़ कजगम ने द्रविड़ों के लिए एक स्वतंत्र राष्ट्र द्रविड़नाडु की माँग की और मद्रास प्रेसीडेंसी के अंतर्गत आने वाले सभी क्षेत्रों को इसमें शामिल करने पर जोर दिया। लेकिन पेरियार के साथ मतभेद हो जाने के कारण पार्टी के दूसरे महत्वपूर्ण नेता सी.एन. अन्नादुरै ने विभाजन करके द्रविड़ मुनेत्र कजगम (डीएमके) की स्थापना की।

1950 में जब भारत का संविधान लागू हुआ तो वर्तमान तमिलनाडु राज्य को मद्रास स्टेट के नाम से जाना जाता था। उस समय इसमें वर्तमान आंध्र प्रदेश, केरल और कर्नाटक के कुछ भाग भी शामिल थे। चूँकि इन राज्यों का

गठन भाषाई आधार पर हुआ था इसलिए मद्रास राज्य के उन भागों को इन राज्यों को दे दिया गया जिनमें इनकी भाषा बोलने वालों की बहुतायत थी। मद्रास में सार्वभौम मताधिकार पर आधारित पहला विधानसभा चुनाव मार्च, 1952 में हुआ। इसमें कांग्रेस को जीत मिली। शुरुआती तीन विधानसभा चुनावों में कांग्रेस का ही वर्चस्व रहा। इस दौरान सी. राजगोपालाचारी (10 अप्रैल, 1952-13 अप्रैल, 1954), के. कामराज (13 अप्रैल, 1954-2 अक्टूबर, 1963) और एम. भक्तवत्सलम (2 अक्टूबर, 1963-6 मार्च, 1967) राज्य के मुख्यमंत्री रहे। ये तीनों ही नेता स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े हुए थे और राजनीति में इनकी काफ़ी प्रतिष्ठा थी। राजगोपालाचारी तो स्वतंत्र भारत के पहले भारतीय गवर्नर जनरल थे। कामराज ने 1963 में 'कामराज योजना' पेश करके कांग्रेस का पुनर्संस्कार किया था। इस योजना के मुताबिक मुख्यमंत्री और अन्य सरकारी पदों पर बैठे कांग्रेसी नेताओं को अपने पद छोड़ कर पार्टी के लिए लोगों के बीच काम करना पड़ा। इसी योजना के आधार पर खुद कामराज ने अपना मुख्यमंत्री पद भी छोड़ा। कामराज 1964 में कांग्रेस के राष्ट्रीय अध्यक्ष बने और उन्होंने लाल बहादुर शास्त्री और इंदिरा गाँधी को प्रधानमंत्री बनवाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। लेकिन साठ के दशक के शुरुआती वर्षों से ही द्रमुक (या डीएमके) की राजनीति से कांग्रेस के वर्चस्व को चुनौती मिलनी शुरू हो गयी थी। द्रमुक की ब्राह्मण-विरोधी नीतियों ने पिछड़ी जातियों को राजनीतिक रूप से गोलबंद किया। एम.जी. रामचंद्रन जैसे लोकप्रिय अभिनेता का समर्थन मिलने से भी इसकी स्थिति मजबूत हुई। आज़ादी के बाद एक दशक तक द्रमुक स्वतंत्र द्रविड़नाडु की माँग पर जोर देती रही। लेकिन 1962 में चीन के हमले के समय राष्ट्रवादी भावनाओं का उफ़ान होने के कारण इसने पहले इस माँग को स्थगित किया और बाद में पूरी तरह से छोड़ दिया। इस कारण तमिलनाडु की राजनीति में इसकी स्वीकार्यता बढ़ी। 1965 में हुए हिंदी विरोधी आंदोलन में द्रमुक नेताओं ने काफ़ी नेतृत्वकारी भूमिका निभायी। 1959 में राजगोपालाचारी द्वारा कांग्रेस से अलग होकर स्वतंत्र पार्टी बनाने का फ़ायदा भी द्रमुक को मिला क्योंकि इससे राज्य में कांग्रेस की स्थिति कमज़ोर हो गयी।

1967 में हुए विधानसभा चुनावों के बाद द्रमुक सत्ता में आयी और सी.एन. अन्नादुरै राज्य के पहले गैर-कांग्रेसी मुख्यमंत्री बने। उन्होंने 14 जनवरी, 1969 को मद्रास राज्य का नाम बदलकर तमिलनाडु कर लिया। अन्नादुरै अपने निधन तक राज्य के मुख्यमंत्री रहे। इसके बाद द्रमुक में नेतृत्व के लिए संघर्ष शुरू हुआ और सात दिन के लिए वी.आर. नेदुंजेज़ियन राज्य के कार्यवाहक मुख्यमंत्री रहे। इसके बाद सरकार की बागडोर करुणानिधि को मिली। लेकिन पार्टी के भीतर करुणानिधि और एम.जी. रामचंद्रन के बीच संघर्ष

चलता रहा। 1972 में रामचंद्रन ने अपनी अलग पार्टी ऑल इण्डिया अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कजगम (अन्नाद्रमुक) का गठन किया। जब तक रामचंद्रन जीवित रहे तब तक वे और करुणानिधि ही यहाँ की राजनीति की धुरी बने रहे। इस तरह राज्य की राजनीति से कांग्रेस के वर्चस्व की विदाई हो गयी। 24 दिसम्बर, 1987 को एम.जी. रामचंद्रन के देहांत के बाद अन्नाद्रमुक में भी कुछ समय के लिए सत्ता-संघर्ष हुआ। एक बार फिर कुछ समय के लिए वी.आर. नेंदुचेज़ियन कार्यवाहक मुख्यमंत्री रहे। फिर बहुत ही कम समय के लिए एम.जी. रामचंद्रन की पत्नी जानकी रामचंद्रन मुख्यमंत्री बनी। राजीव गाँधी सरकार द्वारा राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिये जाने के कारण उनकी सरकार का पतन हो गया। धीरे-धीरे वे नेपथ्य में चली गयीं और अन्नाद्रमुक पूरी तरह से जे. जयललिता की पार्टी बन गयी। इसके बाद से लेकर अब तक की तमिलनाडु की राजनीति मुख्य रूप से दो व्यक्तित्वों अर्थात् करुणानिधि और जयललिता के आस-पास केंद्रित रही है। तमिलनाडु की राजनीति के इन दो सशक्त नेताओं ने इस दौर में केंद्र की राजनीति को भी बहुत गहराई से प्रभावित किया। करुणानिधि और उनकी पार्टी ने अस्सी के दशक के आखिरी वर्षों और नब्बे के दशक में राष्ट्रीय स्तर की गैर-कांग्रेसी राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। वी.पी. सिंह के नेतृत्व में बनी राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार और एच.डी. देवेगौड़ा और इंद्र कुमार गुजराल के नेतृत्व में बनी संयुक्त मोर्चा सरकारों के गठन में द्रमुक ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी और वह इन सरकारों में शामिल भी रही। बाद में लोकसभा के मध्यावधि चुनावों के पहले गठित राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन में भी द्रमुक शामिल रही। 2004 के लोकसभा चुनावों में इसने कांग्रेस से गठबंधन किया और यह गठबंधन 2009 के लोकसभा चुनावों के दौरान भी क्रायम रहा। इन चुनावों के बाद गठित संयुक्त प्रगतिशील मोर्चे (यूपीए) की सरकारों के संचालन में द्रमुक की प्रमुख भूमिका रही। द्रमुक की तरह ही जयललिता की अन्नाद्रमुक ने भी राष्ट्रीय राजनीति में दखल दिया। 1991 में इसने कांग्रेस से मिलकर चुनाव लड़ा और चुनावों के बाद उसकी सरकार को समर्थन दिया। 1998 के लोकसभा के मध्यावधि चुनावों के बाद जयललिता 'किंग मेकर' की भूमिका में आ गयीं और उनके समर्थन वापस लेने के कारण ही वाजपेयी सरकार का पतन हुआ।

लेकिन, इन दो नेताओं के वर्चस्व का अर्थ यह नहीं है कि यहाँ दूसरे राजनीतिक दलों या नेताओं की प्रभावशाली मौजूदगी नहीं रही है। नब्बे के बाद के दौर में राज्य स्तर पर तमिल मनीला कांग्रेस (टीएमसी), पट्टालि मक्कल काच्ची (पीएमके) और मल्लुमाराची द्रविड़ मुनेत्र कजगम (एमडीएमके) का उल्लेख प्रभावशाली राज्य स्तरीय दलों के

रूप में किया जा सकता है। टीएमसी का गठन जी.के. मूपनार ने कांग्रेस से अलग होकर किया था। 1996 के लोकसभा चुनावों के बाद संयुक्त मोर्चे की सरकारों में इसने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। लेकिन बाद में इसका कांग्रेस में विलय हो गया। पीएमके और एमडीएमके अभी राज्य की राजनीति में सक्रिय हैं। तमिलनाडु में राष्ट्रीय दलों की स्थिति मजबूत नहीं रही है। 1967 के बाद कांग्रेस कभी भी राज्य में अपनी सरकार नहीं बना पायी। 1991 में तमिलनाडु के श्रीपेरम्बदुर में राजीव गाँधी की हत्या हो जाने के कारण उसके बाद हुए चुनावों कांग्रेस को जबर्दस्त फ़ायदा हुआ था, लेकिन इसके बावजूद कांग्रेस राज्य में कभी भी अपने पैरों पर खड़ी नहीं हो पायी है। मुख्य तौर पर वह द्रमुक या अन्नाद्रमुक से गठजोड़ बनाकर राजनीति करती रही है। कांग्रेस के अलावा अन्य राष्ट्रीय राजनीतिक दलों मसलन भाजपा या वामपंथी दलों की स्थिति कांग्रेस की तुलना में और भी ज़्यादा ख़राब है।

मुख्य रूप से दो व्यक्तित्वों के आस-पास राजनीति केंद्रित होने के कारण राज्य की राजनीति में चाटुकारिता, भ्रष्टाचार और परिवारवाद का वर्चस्व बहुत ज़्यादा बढ़ गया है। करुणानिधि का परिवार द्रमुक की राजनीति पर हावी है। नब्बे के दौर में जयललिता और करुणानिधि, दोनों ही की सरकारों पर भ्रष्टाचार के गम्भीर आरोप लगे थे। लेकिन तमिलनाडु की राजनीति में कोई सशक्त विकल्प उभरकर सामने नहीं आया और इन्हीं दोनों के बीच सत्ता की अदला-बदली होती रही। 2011 के चुनावों में अन्नाद्रमुक की जीत हुई और जयललिता एक बार फिर मुख्यमंत्री बनीं।

देखें : अरुणाचल प्रदेश, असम, आत्मसम्मान आंदोलन, आंध्र प्रदेश, इरोड वेंकट रामस्वामी नायकर पेरियार, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, गोवा, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झाड़खण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, दिल्ली, नगालैण्ड, बिहार, पंजाब, पश्चिम बंग, मणिपुर, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मिज़ोरम, मेघालय, राजस्थान, हरियाणा।

संदर्भ

- नरेंद्र सुब्रह्मण्यम (2003), 'बियांड एथिसिटी ऐंड पॉपुलिज़्म? चेंजेंज़ ऐंड कॉन्टिनुइटी इन तमिलनाडु इलेक्टोरल मैप', बांब वैलेस और रामाश्रय रॉय (सम्पा.), *इण्डियाज़ 1999 इलेक्शंस ऐंड ट्वेंटीएथ सेंचुरी पॉलिटिक्स*, सेज, नयी दिल्ली.
- डेविड वॉशरब्रुक (1989), 'कास्ट, क्लास ऐंड डॉमिनेंस इन मॉडर्न तमिलनाडु : नॉन ब्राह्मणिज़्म, द्रविड़िज़्म ऐंड तमिल नैशनलिज़्म', फ्रैंसीन फ्रैंकेल और एम.एस.ए. राव (सम्पा.), *डॉमिनेंस ऐंड स्टेट पावर इन मॉडर्न इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली और न्यूयॉर्क.
- रॉबर्ट हार्डग्रेव, जूनियर (1973), 'पॉलिटिक्स ऐंड द फ़िल्म्स इन तमिलनाडु', *एशियन सर्वे*, खण्ड 13, अंक 3.

— कमल नयन चौबे

तीसरा सिनेमा

(Third Cinema)

साठ के दशक से शुरू हुआ यह सिनेमा आंदोलन मुख्यतः तीसरी दुनिया के देशों में सक्रिय फ़िल्मकारों की देन था। ये निर्देशक 'संस्कृति के वि-उपनिवेशीकरण' में यकीन करते थे। इसीलिए उन्होंने अपनी कृतियों को पहले सिनेमा (हॉलीवुड) और दूसरे सिनेमा (यूरोपीय कला सिनेमा) से अलग एक तीसरे ध्रुव पर स्थित किया। अपनी स्वतंत्रता और स्वायत्तता के लिहाज से तीसरा सिनेमा सोवियत खेमे के सिनेमा से भी अलग था, हालाँकि उसके सिद्धांतकार घोषित रूप से समाजवादी विचारधारा के साथ जुड़े हुए थे। यहाँ तीसरे सिनेमा और तीसरी दुनिया के सिनेमा के बीच अंतर स्पष्ट करना ज़रूरी है। तीसरी दुनिया के सिनेमा का एक बहुत बड़ा हिस्सा फ़िल्म-निर्माण के मामले में या तो हॉलीवुड के प्रारूप का पालन करता है, या फिर कला सिनेमा आंदोलन की विभिन्न प्रवृत्तियों को अपनाता है। तीसरी दुनिया के सिनेमा का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन है, जबकि तीसरा सिनेमा अपने चरित्र में खुले तौर पर राजनीतिक था और फ़िल्म-निर्माण के ग़ैर-राजनीतिक रवैये और तौर-तरीकों को नापसंद करता था।

1969 में अर्जेंटीना के दो विमर्शकारों फ़र्नांडो सोलानास और ऑक्टवियो गेटिनो ने 'टुवर्ड्स अ थर्ड सिनेमा' शीर्षक से एक घोषणा पत्र तैयार किया जिससे इस आंदोलन की शुरुआत हुई। साठ के दशक के दौरान तीसरी दुनिया के आर्थिक रूप से पिछड़े हुए देशों में होने वाले

राजनीतिक संघर्षों और क्रांतियों के आख्यान का इस घोषणा पत्र पर गहरा असर था। यही वह दौर था जब सामाजिक और राजनीतिक रूप से सजग फ़िल्मकारों ने वामपंथी विचारधारात्मक रुझानों की मदद ले कर तीसरी दुनिया में हो रहे परिवर्तनों की या तो खुली पैरोकारी की या विपक्षी भूमिका निभाते हुए उन्हें प्रश्नांकित किया। यह सिनेमा शैलीगत रूप से अमेरिका के प्रति-सिनेमा की तरह था। जिस तरह प्रति-सिनेमा फ़िल्म निर्माण के हॉलीवुडीय तौर-तरीकों की कड़ी आलोचना करते हुए विकसित हुआ था, उसी तरह से तीसरे सिनेमा के फ़िल्मकारों ने अपने-अपने देशों के संदर्भ में यही भूमिका निभायी। इन कलाकारों ने तीसरी दुनिया के दर्शकों के सामने अमेरिकी व्यावसायिक फ़िल्में और यूरोपीय कला सिनेमा परोसने का भी विरोध किया।

जाहिर है कि तीसरा सिनेमा आंदोलन के फ़िल्मकारों की भावभूमि पर उनके अपने देश के यथार्थ की गहरी छाप थी। इस लिहाज से ये फ़िल्मकार एक-दूसरे से उल्लेखनीय ढंग से अलग भी थे। लेकिन उनके बीच पाये जाने वाले समानता के बिंदु उन्हें सरोकारगत रूप से एक खेमे में रख देते थे। मसलन, अफ़्रीका और भारत के फ़िल्मकारों का मकसद उपनिवेशवाद के प्रभावों पर रोशनी डालना था। लातीनी अमेरिका के फ़िल्मकारों की रुचि नव-उपनिवेशवादी संरचनाओं को अनावृत्त करने की थी। कुल मिला कर अफ़्रीकी, एशियायी और दक्षिण अमेरिकी देशों के फ़िल्मकार इस आंदोलन के तहत बहिर्वेशन और उत्पीड़न के मकामों की शिनाख़्त करते हुए फ़िल्मों के ज़रिये राजनीतिक वक्तव्य देने के इच्छुक थे। इस प्रक्रिया में उन्होंने नयी सिनेमाई संहिताओं और परम्पराओं की रचना का दावा किया। वर्ग, नस्ल, संस्कृति, धर्म, सेक्स और राष्ट्रीय अखण्डता से जुड़े मुद्दों को

सम्बोधित करते हुए इन नयी संहिताओं के मर्म में ग़रीब और अमीर का अंतर्विरोध था। लोकप्रिय स्वदेशी संस्कृतियों और उनके निरूपण के ज़रिये इन फ़िल्मकारों ने औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी मूल्यों का समर्थन करने वाले शासक वर्गों का विरोध करने का फ़ैसला किया।

दिलचस्प बात यह है कि अपने व्यवस्था विरोधी तेवर



तीसरा सिनेमा : 'द बैटिल ऑफ़ अलजयर्स' (2003)

को बुलंद करने के बावजूद तीसरे सिनेमा के बहुत से फ़िल्मकार अपने वित्त-पोषण के लिए सरकार पर निर्भर थे। भारत और क्यूबा में सरकारी पैसा इन फ़िल्मों के निर्माण में खर्च हुआ और अफ्रीका के कुछ देशों (सेनेगल, ट्यूनीशिया, अल्जीरिया और मोरोक्को) के फ़िल्मकारों ने तो अपने पूर्व औपनिवेशिक प्रभुओं द्वारा दिया गया धन तक स्वीकार कर लिया। इस विरोधाभास के बावजूद यह संयोग विचारणीय है कि तीसरी दुनिया के अलग-अलग देशों में सक्रिय फ़िल्मकार अपने सामाजिक और राजनीतिक दायित्वों के बारे में एक ही निष्कर्ष तक कैसे पहुँचे। अफ्रीकी फ़िल्मकारों ने 1969 में ही अल्जीरिस में अपना अखिल अफ्रीकी संगठन बना लिया था ताकि वे फ़िल्म-माध्यम का क्रांतिकारी इस्तेमाल करते हुए उपनिवेशवाद से मुक्त हो कर अफ्रीकी एकता के लिए काम कर सकें। इसी साल से बर्किना फ़ासो में व्यवस्था विरोधी फ़िल्मों का एक द्वि-वर्षीय फ़िल्मोत्सव शुरू किया गया।

भारत में तीसरे सिनेमा की संहिताओं की अभिव्यक्ति मृणाल सेन ('भुवन शोम') और मणि कौल ('उसकी रोटी') की फ़िल्मों में हुई। इसकी पृष्ठभूमि में चालीस के दशक में चले भारतीय जननाट्य संघ (इप्टा) का रंगमंच और फ़िल्म आंदोलन था जिसने 1946 में ख्वाजा अहमद अब्बास के निर्देशन में 'धरती के लाल' जैसी चर्चित फ़िल्म बनायी थी। इसके साथ ही तीसरे सिनेमा पर पचास और साठ के दशक की शुरुआत में बनायी गयी सत्यजीत राय ('पाथेर पांचाली', 'अपूर संसार', 'महानगर', 'चारुलता') और ऋत्विक् घटक की फ़िल्मों का भी असर था। घटक ने 1952 में 'नागरिक' और 'अजांत्रिक' से शुरुआत की, पर इसके बाद उन्होंने 1943 में पड़े बंगाल के अकाल और 1947 में हुए भारत-विभाजन की त्रासदी के अपने आँखों देखे अनुभव के आधार पर गहरे राजनीतिक अर्थों से सम्पन्न फ़िल्म-त्रयी 'मेघे ढाके तारा' (1960), 'कोमल गांधार' (1961) और 'सुबर्णरेखा' (1962) का निर्माण किया।

लातीनी अमेरिका के तीसरे सिनेमा के केंद्र में सशस्त्र संघर्ष की विषयवस्तु थी। इस दौरान उभरे ब्राजीली सिनेमा की शिनाख्त 'भूख अथवा हिंसा के सौंदर्यशास्त्र' के तौर पर की जाती है। अर्जेटीना के क्रांतिकारी सिनेमा ने अवाँगार्द क्रिस्म के जुझारू वृत्त-चित्रों का रूप ग्रहण किया। क्यूबाई सिनेमा के लिए भी यह अवधि उत्पादक साबित हुई। वहाँ एक ऐसा राजनीतिक सिनेमा सामने आया जिसके केंद्र में क्रांति को धरती पर उतारने में पैदा होने वाली कठिनाइयाँ थीं।

तीसरे सिनेमा के इर्द-गिर्द नब्बे के दशक तक जम कर बहस-मुबाहिसा जारी रहा। इसमें भाग लेने वालों ने एक अवधारणा के रूप में तृतीय विश्व और इस प्रकार के सिनेमा के बीच व्यावहारिक और सैद्धांतिक संबंधों का सूत्रीकरण

करने का प्रयास किया। 1986 में यह सिनेमा विभिन्न देशों में रह रहे हाशियाकृत समूहों की समस्याओं पर रोशनी डालने वाली फ़िल्मों के रूप में सामने आया। अस्सी के दशक के अंत में ब्रिटेन में ब्लैक सिनेमा उभरा जिसके तत्त्वावधान में एडिनबरा (1986) और बरमिंघम (1988) में दो सम्मेलन आयोजित किये गये जिन्होंने इस बहस को अधिक व्यापक रूप दिया।

इन सम्मेलन में हुए विचार-विमर्श से तीसरे सिनेमा के कुछ पहलू ठोस रूप से सूत्रीकृत हुए। जैसे, तीसरा सिनेमा एक राष्ट्रीय सिनेमा है जिसकी जड़ें अपने देश की संस्कृति, राजनीति और सामाजिक अनुभव से जुड़ी हुई हैं। यह कई तरह का हो सकता है और इसकी प्रकृति निजी स्मृति पर आधारित है न कि इतिहास के आधिकारिक निरूपण पर। तीसरा सिनेमा फ़िल्मकार पर यह समझने की जिम्मेदारी डालता है कि शूटिंग करते समय वह किस मक़ाम पर खड़ा है और शूटिंग करते समय वह 'क्या' और 'क्यों' है। इन दोनों प्रश्नों के उत्तर पाने की प्रक्रिया में तीसरे सिनेमा की कृतियों की बेहतर समझ हासिल करने की सम्भावना बढ़ी। मसलन, इसके बाद यह देखना मुमकिन हो गया कि शुरुआती दौर में बने तीसरे सिनेमा से जेंडर का प्रश्न क्यों ग़ैरहाज़िर था।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवाँगार्द और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्शुअलिटी, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, फ़्लैश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. फ़र्नांडो सोलानास और ऑक्टवियो गेटिनो (1983), 'टुवर्ड्स अ थर्ड सिनेमा', संकलित : एम. चानन (सम्पा.), *ट्वेंटी फ़ाइव ईयर्स ऑफ़ न्यू लैटिन अमेरिकन सिनेमा*, ब्रिटिश फ़िल्म इंस्टीट्यूट पब्लिशिंग, लंदन.
2. टी. गैब्रियल (1989), 'थर्ड सिनेमा एज़ गार्जियन ऑफ़ पॉप्युलर मैमोरी : टुवर्ड्स अ थर्ड एस्थेटिक्स', संकलित : जे. पाइंस और पी. विलमेन (सम्पा.), *क्वेशंस ऑफ़ थर्ड सिनेमा*, ब्रिटिश फ़िल्म इंस्टीट्यूट पब्लिशिंग, लंदन.
3. सी. फुस्को (1989), 'एबाउट लोकेटिंग अवरसेल्वज़ ऐंड अवर रिप्रजेंटेशंस, बरमिंघम थर्ड स्पेस सेक्शन ऑफ़ द 1988 बरमिंघम फ़िल्म ऐंड टेलिविज़न फ़िल्म फ़ेस्टिवल', *फ़्रेमवर्क*, खण्ड 36.

— अभय कुमार दुबे

तीसरी दुनिया का सिनेमा

(Third World Cinema)

तीसरी दुनिया के सिनेमा का सीधा मतलब माना जाता है अफ्रीका, मध्य-पूर्व, भारतीय उपमहाद्वीप, चीन, एशियाई देशों और लातीनी अमेरिका का सिनेमा। विविध सांस्कृतिक जड़ों और तरह-तरह की शैलियों के बावजूद इस सिनेमा का एक समान लक्षण यह है कि यह युरोकेंद्रित नहीं है। युरोप और अमेरिका के फ़िल्म बाज़ार में इन देशों के सिनेमा-उत्पादों के लिए कोई उत्सुकता नहीं पायी जाती, लेकिन अपने देशों की जनता के बीच असाधारण रूप से लोकप्रिय यह सिनेमा एक सांस्कृतिक शक्ति के रूप में खुद को स्थापित कर चुका है। तीसरी दुनिया के समाज और राजनीति के साथ इस सिनेमा के संबंधों की व्याख्या के लिए युरोकेंद्रीय सिद्धांतों का उपयोगी नाकाफ़ी है। तीसरी दुनिया के सिनेमा के पास अपनी विमर्श-परम्पराएँ और अपने सिद्धांत हैं। भारतीय सिनेमा ने इस विमर्श में विशिष्ट योगदान किया है। 1948 में ही सत्यजीत राय और चिदानंद दासगुप्ता के लेखन ने सिनेमा-सिद्धांत से जुड़ते हुए स्वातंत्र्योत्तर भारतीय सिनेमा की राष्ट्र के संदर्भ में एकताकारी भूमिका पर जोर देना शुरू कर दिया था। इसके बाद साठ और सत्तर के दशक में ऋत्विक् घटक और कविता सरकार का लेखन सामने आया जिसके केंद्र में यथार्थवाद बनाम आधुनिकतावाद, आधुनिकतावाद बनाम अवाँगार्द और राष्ट्रीय सिनेमा बनाम क्षेत्रीय सिनेमा जैसी बहसें थीं। आज भारतीय सिनेमा अपने प्रसार, विविधता और संस्थागत मज़बूती में हुई ज़बरदस्त बढ़ोतरी के कारण एक भूमण्डलीय ताकत में विकसित हो चुका है। इसलिए इस प्रविष्टि में केवल अफ्रीकी, चीनी, लातीनी अमेरिकी और मध्य-पूर्व के सिनेमा की चर्चा की गयी है। भारतीय सिनेमा पर अलग से दो विस्तृत प्रविष्टियाँ दी गयी हैं।

अफ्रीकी महाद्वीप में रचे गये अधिकतर सिनेमा को राष्ट्रीय चेतना के वाहक के तौर पर चिह्नित किया जा सकता है। इन फ़िल्मों ने या तो उपनिवेशवाद के प्रभावों की भर्त्सना की या परम्परा बनाम आधुनिकता के द्विभाजन को सम्बोधित किया। यह सिनेमा एक तरफ़ तो परम्परा के कुछ रूपों को स्थापित करता नज़र आया, तो दूसरी तरफ़ उसने परम्परा के अन्य रूपों की कठोर आलोचना की। इसी तरह उसने आधुनिकता के सकारात्मक और नकारात्मक रूपों की भी शिनाख़्त की। साठ और सत्तर के दशक में अफ्रीकी फ़िल्म-रचना पर फ्रेंज़ फ़ानो के रैडिकल लेखन के गहरे प्रभाव के फलस्वरूप अफ्रीकी सिनेमा अपने क्रांतिकारी और

प्रतिरोधमूलक पक्ष के लिए भी जाना जाता है। इस सिनेमा ने लुई अलथूसे के विचारधारा संबंधी मार्क्सवादी विमर्श से भी प्रेरणा प्राप्त की। दरअसल, साठ के दशक में कई अफ्रीकी फ़िल्मकार पेरिस में सक्रिय थे। जब वे स्वदेश लौटे तो अपने साथ वहाँ के रैडिकल चिंतन की सौगात भी साथ लाए।

अफ्रीकन फ़िल्मकारों ने बर्किना फ़ासो में एक द्विवार्षिक फ़िल्मोत्सव भी शुरू किया। अखिल-अफ्रीकी फ़िल्मों की नुमाइंदगी करने वाले इस कार्यक्रम को दुनिया का सबसे बड़ा फ़िल्म महोत्सव माना जाता है। अफ्रीका में कुल मिला कर तीन महोत्सव होते हैं जिनके केंद्र में पैन-अफ्रीकनिज़म है जिसकी रोशनी में यह सिनेमा अपने तीन उद्देश्य प्राप्त करता है : राष्ट्रों के इतिहास और संस्कृतियों का आख्यान प्रस्तुत करना, समकालीन अफ्रीका के सामाजिक-राजनीतिक अंतर्विरोधों को उजागर करना और शैलीगत धरातल पर युरोकेंद्रीयता से कतराते हुए वि-उपनिवेशीकरण के सौंदर्यशास्त्र की रचना करना। ये तीनों उद्देश्य परस्परव्यापी ढंग से अपनी अभिव्यक्ति करते हैं। अफ्रीकी सिनेमा के लिए इतिहास का आख्यान बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस महाद्वीप के इतिहास की परम्परा अधिकांशतः वाचिक है जो फ़िल्म-माध्यम के अनुकूल है। उपनिवेशवाद की भर्त्सना करते हुए यह सिनेमा अफ्रीका की खोयी हुयी विरासत और अस्मिता को सामने लाता है ताकि भविष्य निर्माण की क्रांतिकारी चेतना उभर सके। इन दोनों उद्देश्यों को पूरा करने में जिन फ़िल्मकारों की रचनाएँ सफल मानी जाती हैं उनमें जिब्रिल दियोप मैम्बेती प्रमुख हैं।

चीनी सिनेमा : चीन में सिनेमा के इतिहास को 1896 में हुई शुरुआत से 1949 तक और 1949 से आज तक के दो चरणों में बाँट कर समझा जा सकता है। पहला दौर चीनी ओपेरा के फ़िल्मांकन से लेकर अतिनाटकीय और कॉमेडी फ़िल्मों के निर्माण तक फैला हुआ है। इस अवधि में चीनी सिनेमा ने पश्चिमी साम्राज्यवाद का प्रतिरोध करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, पर संस्थागत रूप कमजोर होने के कारण उसे अमेरिकी और पश्चिमी सिनेमा के मुकाबले मुँह की खानी पड़ती थी। 1931 में जापानी आक्रमण के खिलाफ़ राष्ट्रवादी और कम्युनिस्ट गठजोड़ से बने माहौल में वामपंथी बुद्धिजीवियों ने फ़िल्म उद्योग में पदार्पण किया और कम्युनिस्ट प्रकोष्ठों की स्थापना की। इसका नतीजा वामपंथी रुझान की फ़िल्मों के निर्माण में निकला। 1919 के चार मई आंदोलन से प्रभावित इस दौर को चीनी सिनेमा का पहला स्वर्ण युग कहा जाता है। राष्ट्रवादी और देशभक्त प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त करने वाले इस सिनेमा का सिलसिला 1949 तक चलता रहा। 1946 से 49 के बीच कई वामपंथी फ़िल्मकारों ने शंघाई में कार्यरत फ़िल्म कम्पनियों को केंद्र बना कर जिस सिनेमा की रचना की उसे चीनी सिनेमा का दूसरा स्वर्ण युग



ईरानी सिनेमा : मोहसिन मखम्बाफ (1957-)

कहा जाता है।

1949 में क्रांति के बाद सिनेमा का केंद्र पेइचिंग और चांगचुंग की तरफ़ खिसकना शुरू हुआ। माओ ने सत्तारूढ़ होने के कुछ समय बाद ही शंघाई में बनने वाले सिनेमा को खारिज कर दिया और कहा कि इसकी शैली पर पश्चिमी प्रभाव कुछ ज्यादा ही है। 1953 तक शंघाई के स्टूडियो राष्ट्रीयकृत कर दिये गये। इसके बाद हर तरह की फ़िल्मों के लिए माओ की कार्यदिशा अपना अनिवार्य हो गया। क्रांति के बाद 1966 तक बनने वाली फ़िल्में समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धांत के तहत मजदूर-किसानों के जीवन की विषयवस्तु पर केंद्रित थीं। इस दौर पर सोवियत सिनेमा का असर साफ़ देखा जा सकता था।

1956 के बाद चीनी सिनेमा ने नयी करवट ली। अब माओ की लाइन क्रांतिकारी यथार्थवाद और क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद पर जोर देने की थी। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि इस परिवर्तन का फ़ायदा उठा कर फ़िल्मकार चार मई आंदोलन की साहित्यिक परम्परा की तरफ़ लौटने लगे। 'सौ फूलों को खिलने दो' की नीति के तहत फ़िल्म-निर्माण पर लगी पाबंदियाँ उठा ली गयीं। फ़िल्मकारों को युरोपीय फ़िल्म महोत्सवों में जाने की इजाजत मिलने लगी। नौकरशाही की आलोचना करने वाली फ़िल्मों को भी प्रदर्शित किया जाने लगा। यह खुलापन 1964 तक विभिन्न डिग्रियों में चला। कभी-कभी बूज्वा प्रवृत्तियों की रोकथाम के नाम पर इन फ़िल्मों को सेंसर भी किया जाता था।

1966 से 1972 के बीच हुई सांस्कृतिक क्रांति के दौरान क्रांतिकारी अभिरुचि को नये सिरे से परिभाषित किया गया। इस दौरान सीमित क्रिस्म की क्रांतिकारी ओपेरा शैली में केवल दस फ़िल्में बनीं, क्योंकि मादाम माओ द्वारा जारी की गयी कड़ी हिदायतों के मुताबिक़ हर फ़िल्म में आदर्श सर्वहारा नायक और नायिका का केंद्र में होना ज़रूरी था।

सांस्कृतिक क्रांति ने पेइचिंग स्थित फ़िल्म अकादमी पर ताला डाल दिया और कई फ़िल्मकारों को जेल की हवा खानी पड़ी या उन्हें श्रम-शिविरों में भेज दिया गया। 1977-84 के बीच राजनीतिक परिवर्तनों का लाभ उठा कर चीनी फ़िल्मों ने सांस्कृतिक क्रांति के दौरान हुई ज़्यादातियों की आलोचना की। अस्सी के दशक के मध्य से चीनी सिनेमा में नयी लहर आयी जो आज तक जारी है। आज की फ़िल्में चीनी ऑपेरा के सांस्कृतिक दायरे और कम्युनिस्ट प्रोपेगंडे से बाहर रह कर सिनेमाई सौंदर्यशास्त्र के साथ अन्योन्यक्रिया के तहत बन रही हैं। पेइचिंग फ़िल्म अकादमी से निकले युवा फ़िल्मकारों ने ताइवान, हांगकांग और ब्रिटेन/जर्मनी से प्राप्त धन का इस्तेमाल करके 'रेड सोरगुम', 'दि स्टोरी ऑफ़ क्युई जू', 'रेज़ द रेड लैंटर्न', 'शंघाई ट्रिआड', 'यलो अर्थ' और 'फ़ेयरवैल माई कोंक्यूबाइन' जैसी बेहतरीन फ़िल्में बनायी हैं जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर पुरस्कृत किया गया है। ज्ञान यिम्पू और चेन केगी जैसे चीनी फ़िल्मकार इस समय सारी दुनिया में प्रतिष्ठित हैं।

लातीनी अमेरिकी सिनेमा : बीस के दशक में मध्य और दक्षिण अमेरिकी देशों के तकरीबन अस्सी फ़ीसदी फ़िल्म बाज़ार पर अमेरिका का क़ब्ज़ा था। तीस के दशक तक केवल मेक्सिको, अर्जेंटीना और ब्राज़ील के पास ही फ़िल्म-निर्माण का स्वदेशी ढाँचा मौजूद था। ब्राज़ील प्रति वर्ष सौ फ़िल्में बनाता था जिनमें से ज़्यादातर ग्रामीण काऊबॉय पृष्ठभूमि की रोमानी फ़िल्में हुआ करती थीं। यह फ़िल्म शैली अर्जेंटीना में भी काफ़ी लोकप्रिय थी। मेक्सिको में ज़रूर कुछ ऐसी फ़िल्में बनती थीं जिनमें उत्तरी अमेरिकी में मेक्सिकन मजदूरों की दुर्दशा का चित्रण किया जाता था। ध्वनि के आगमन के बाद लातीनी अमेरिकी सिनेमा ने राष्ट्रीय संस्कृतियों को प्रोत्साहन देना शुरू किया और म्यूज़िकल फ़िल्म शैली की शुरुआत हुई।

तीस के दशक के मध्य में सबसे पहले मेक्सिकन फ़िल्म उद्योग ने अपने क़दम जमाये। पचास के दशक तक की अवधि इस सिनेमा के लिए स्वर्णकाल मानी जाती है। इस दौर में हॉलीवुड से प्रशिक्षण और अनुभव प्राप्त करके आये निर्देशकों और तकनीशियनों का योगदान रहा। 1930-32 में सोवियत फ़िल्मकार सेर्गेई आइज़ेंस्टीन मेक्सिको की यात्रा पर आये जहाँ उन्होंने अपनी विख्यात फ़िल्म 'को वीवा मेक्सिको!' की शूटिंग की। स्थानीय फ़िल्मकारों ने आइज़ेंस्टीन से भी बहुत कुछ सीखा। लेकिन जिस समय मेक्सिको फ़िल्म-निर्माण के क्षेत्र में मजबूत क़दम बढ़ा रहा था, अर्जेंटीना की सरकार के फ़ासीवादी समर्थक रुख के कारण वहाँ फ़िल्म-निर्माण को ज़बरदस्त धक्का लगा। अमेरिका ने वहाँ कच्ची फ़िल्म भेजने पर पाबंदी लगा दी। 1946 में पेरों सरकार के तत्वाधान में अर्जेंटीना में फिर से

फ़िल्म-निर्माण शुरू हुआ, पर सेंसर की पाबंदियों के कारण बूज्वा मेलोड्रामा से भरी हुई 'सुरक्षित' फ़िल्में ही बनीं। इस दौरान बनी केवल एक फ़िल्म ही उल्लेखनीय कही जा सकती है जिसने पेरों की सर्वसत्तावादी हुकूमत के खिलाफ़ आवाज़ उठायी। यह थी लियोपोल्डो तोरे निल्सन की फ़िल्म 'द हेंड इन द ट्रेप' जिसे कान फ़िल्म महोत्सव में इंटरनेशनल प्रेस प्राइज़ से नवाजा गया।

लातीनी अमेरिकी सिनेमा की शैलीगत संरचनाओं पर मुख्यतः वाचिक आख्यान की परम्पराओं और स्थानीय संगीत का गहरा असर रहा है। चालीस और पचास के दशक का सिनेमा एक देश से दूसरे देश में सिनेमाई प्रतिभाओं के आवागमन से भी काफ़ी प्रभावित हुआ। युरोपीय और अमेरिकी फ़िल्मकारों ने लातीनी अमेरिका में आ कर काम किया, क्यूबाई फ़िल्मकारों ने मेक्सिकन और अर्जेंटीनियन फ़िल्मों में योगदान किया, अर्जेंटीना के फ़िल्मकार ब्राज़ील और वेनेज़ुएला गये। इस लिहाज़ से लातीनी अमेरिका सिनेमा को राष्ट्रतर सिनेमा भी कहा जा सकता है। पचास से सत्तर के दशक के बीच में यह सिनेमा अपनी जुझारू और क्रांतिकारी फ़िल्मों के लिए जाना गया जिन्हें प्रति-सिनेमा की श्रेणी में रखा जाता है। इस सिनेमा का मुख्य विरोधाभास यह था कि इसमें सरकारी धन लगा हुआ था, पर शैली और विषयवस्तु के लिहाज़ से वह व्यवस्था विरोधी तेवर का वाहक था।

क्यूबा में होने वाले फ़िल्म-निर्माण की लगाम 1960 से अस्सी के दशक तक क्यूबन इंस्टीट्यूट ऑफ़ फ़िल्म आर्ट के हाथ में रही। इसने हर साल छह से दस के बीच में समाजावादी विषयवस्तुओं को लेकर प्रयोगधर्मी फ़िल्में बनायीं। इस दौरान वृत्त-चित्र शैली के लिए सांटियागो अल्वारेज़ का नाम उभरा और कथा-चित्र के लिए टॉमस गुइटेरेज़ का। इन फ़िल्मकारों ने जानबूझ कर एक 'इम्प्रफ़ेक्ट' सिनेमा बनाने की कोशिश की जो अपने स्वभाव में प्रति-सिनेमा के शैलीगत विद्रोह से सम्पन्न था। कुल मिला कर सत्तर के दशक तक लातीनी अमेरिकी सिनेमा अपनी अलग प्रकृति के कारण विश्व भर में धाक जमा चुका था। अस्सी के दशक के बाद से लातीनी अमेरिका में भी टेलिविज़न एक सांस्कृतिक शक्ति के रूप में उभरा जिसके कारण दुनिया के अन्य देशों की तरह यहाँ भी फ़िल्म-निर्माण को तौर-तरीकों पर असर पड़ा। आज का ब्राज़ीली सिनेमा अंतर्राष्ट्रीय दर्शकों को अपनी ओर खींचने की कोशिश करता नज़र आता है। अस्सी और नब्बे के दशक में स्त्रियों का सिनेमा और समलैंगिकों का सिनेमा भी सामने आया है।

मध्यपूर्व के सिनेमा का व्यावहारिक मतलब है ईरानी, इज़रायली, फ़िलिस्तीनी और तुर्की के फ़िल्मकारों द्वारा बनाया गया सिनेमा। 1967 में सात-दिन के युद्ध में इज़रायल के हाथों मिस्र, जॉर्डन और सीरिया की पराजय फ़िलिस्तीनी

डायस्पोरा के प्रयासों से इस राज्य-विहीन राष्ट्र का सिनेमा उभरा। फ़िलिस्तीन-इज़रायल संघर्ष का इस सिनेमा पर गहरा प्रभाव पड़ना लाज़मी था। इन फ़िल्मकारों ने वृत्त-चित्र और कथा-चित्र की मिश्रित शैली अपनायी। इज़रायली सिनेमा पर वैसे तो अरब राष्ट्रवादियों पर यहूदी राष्ट्र की श्रेष्ठता स्थापित करने के आग्रह छाये रहे, पर अस्सी के दशक के बाद वहाँ ऐसी फ़िल्में भी बनीं जो फ़िलिस्तीनी राष्ट्र की दावेदारियों पर हमदर्द निगाह डालती थीं। इज़रायल के दक्षिणपंथी ऐसी कोशिशों पर वामपंथी सिनेमा की श्रेणी चर्चा करते हैं, और दूसरी तरफ़ फ़िलिस्तीनियों द्वारा भी इन फ़िल्मों को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है।

तुर्की मध्य-पूर्व का पहला ऐसा देश था जिसने बीसवीं सदी के दूसरे दशक से ही अपने स्वदेशी सिनेमा की शुरुआत कर दी थी। युरोपीय प्रभाव के कारण इस सिनेमा पर पश्चिमी शैली की छाप स्पष्ट दिखाई देती थी। पचास के दशक तक तुर्की में प्रति वर्ष डेढ़ से दो सौ फ़िल्में बननी शुरू हो चुकी थीं। इनमें मेलोड्रामा, ग्रामीण और शहर आधारित नाटकीय फ़िल्में, मारधाड़ वाली फ़िल्में और शहरी कामेडी फ़िल्में शामिल थीं। साठ के दशक में हुए फ़ौजी तख़्तापलट के बाद तुर्की सिनेमा कुछ अंतर्मुखी हुआ। इसके बाद राष्ट्रीय सिनेमा की दो धाराएँ उभरीं। पहली धारा आधुनिक पश्चिमी मूल्यों और इसलामी पारम्परिक मूल्यों के बीच अंतर्विरोध को संबोधित करती थी, और दूसरी के केंद्र में केवल इस्लामिक विचारधारा थी। सत्ता परिवर्तन, राजनीतिक अस्थिरता और सेंसरशिप की समस्याओं से जूझता हुआ तुर्की सिनेमा नब्बे के दशक तक फ़िल्मकारों की नयी पीढ़ी से सम्पन्न हो चुका था। विशेष बात यह है कि इस पीढ़ी में महिला फ़िल्मकारों का ख़ासा अनुपात है।

ईरानी सिनेमा का पहला कथा-चित्र तीस के दशक में बना। उसकी पहली बोलती हुई फ़िल्म 'खोयी हुई लड़की' का फ़िल्मांकन भारत में आर्देशिर ईरानी के निर्देशन में हुआ। चालीस के दशक आख़िरी वर्षों में वहाँ पहला फ़िल्म स्टूडियो खुला। साठ के दशक में ईरानी फ़िल्म उद्योग को सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। अमेरिका का ख़याल था कि इस तरीक़े से वह ईरान को बढ़ते हुए कम्युनिस्ट प्रभाव से बचा सकेगा। शाह की हुकूमत ईरान ने में पश्चिमोन्मुख सिनेमा को प्रोत्साहन दिया। 1969 में मसूद किमाई की फ़िल्म 'कैसर' और दरयुश मेहरजुई की फ़िल्म 'गाय' से ईरानी न्यू वेव की शुरुआत हुई जो 1978 की क्रांति तक चली।

क्रांति के पहले साल के दौरान तो सिनेमा पर प्रतिबंध लगा रहा। कई सिनेमा थिएटर जला दिये गये। कड़े इसलामी क़ानून के कारण स्त्रियों की फ़िल्मों में भागीदारी असम्भव हो गयी। कई फ़िल्मकारों ने ख़ुद को निष्कासित कर लिया और इस तरह ईरान का डायस्पोरिक सिनेमा सामने आया। 1983

में संस्कृति मंत्रालय ने फ़राबी सिनेमा फ़ाउंडेशन स्थापित किया। 1987 तक स्त्रियों को सिनेमा में भाग लेने की इजाज़त मिलने लगी। महिलाएँ फ़िल्म निर्देशन के क्षेत्र में भी आयीं। लेकिन जो भी फ़िल्में बनीं उन्हें इस्लामिक सेंसरशिप के पाँच स्तरों से गुज़रना पड़ता था। कड़ाई इतनी थी कि इस्लामिक विचारधारा में यक़ीन करने वाले फ़िल्मकारों की फ़िल्में भी प्रतिबंधित कर दी जाती थीं। सेंसरशिप के कारण स्थिति यह है कि आज ईरानी फ़िल्मकारों की कृतियाँ अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर ज़्यादा सराही जाती हैं।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवांगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्शुअलिटी, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, फ़्लैश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. डी. ऐंडरू (1984), *कंसेप्ट्स इन फ़िल्म थियरी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क और ऑक्सफ़र्ड.
2. जी. मास्ट, एम. कोहेन और एल. ब्रादी (सम्पा.) (1992), *फ़िल्म थियरी ऐंड क्रिटिसिज़म*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क और ऑक्सफ़र्ड.
3. जे. कांगी (सम्पा.) (1981), *थियरीज़ ऑफ़ ऑथरशिप*, रॉटलेज ऐंड कीगन पॉल, लंदन.
4. एस. हीथ (1981), *क्वेशचंस ऑफ़ सिनेमा*, मैकमिलन, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

तेलुगु देशम पार्टी

(Telgu Desham Party)

तेलुगु देशम पार्टी (तेदेपा) दक्षिण भारतीय राज्य आंध्र प्रदेश का प्रमुख राजनीतिक दल है। इस पार्टी और इसके संस्थापक विख्यात सिने अभिनेता नंदमूरि तारक रामराव (1923-1996) ने अस्सी के दशक में न केवल आंध्र प्रदेश में कांग्रेस के वर्चस्व को ज़बरदस्त चुनौती दी, बल्कि लोकसभा में भी मुख्य विपक्षी दले के रूप में उभरी। बाद में, इस दशक के आख़िर में केंद्रीय स्तर पर ग़ैर-कांग्रेसवाद की राजनीति में भी देशम की महत्वपूर्ण भूमिका रही। नब्बे के दशक में गठित

ग़ैर-कांग्रेसी सरकारों में उसने भागीदारी की। रामराव के जीवन में ही पार्टी में विभाजन करके उनके दामाद चंद्रबाबू नायडू पार्टी के नेता बने। नायडू आंध्र के मुख्यमंत्री के रूप में आर्थिक सुधारों के जोरदार पैरोकार के रूप में सामने आये और इसके कारण उन्हें राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति भी मिली। उन्होंने सीईओ शैली में सरकार चला कर प्रशासन का एक नया मॉडल स्थापित करने की कोशिश की। यद्यपि 2004 के विधानसभा चुनावों के बाद यह पार्टी राज्य में सत्ता से बाहर है, लेकिन अब भी यह मुख्य विपक्षी दल के रूप में सत्ता की सबसे बड़ी दावेदार है। राष्ट्रीय स्तर पर ग़ैर-कांग्रेसवाद की राजनीति में इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। देशम के जनाधार की विशेषता यह है कि इसे प्रदेश के एक प्रमुख पिछड़े समुदाय कम्मा बिरादरी का एकनिष्ठ समर्थन हासिल है। मोटे तौर पर कांग्रेस को आंध्र प्रदेश में रेडिडियों की पहली पसंद माना जाता रहा है, और रेडिडियों से सामाजिक प्रगति की होड़ में संलग्न कम्मा रामराव की परम्परा में नायडू और देशम को अपने राजनीतिक प्रतिनिधि के तौर पर देखते हैं।

रामराव द्वारा 29 मार्च, 1982 को हैदराबाद में तेलुगु देशम पार्टी की स्थापना की गयी थी। रामराव तेलुगु फ़िल्मों के सबसे मशहूर और लोकप्रिय अभिनेता थे। उनकी पार्टी ने भारत के तेलुगुभाषी लोगों के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हितों की सुरक्षा को अपना लक्ष्य घोषित किया। आम तेलुगुभाषी लोगों को जीवन की बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध कराने, महिलाओं, युवकों और पिछड़े समूहों के लोगों का सशक्तीकरण करने का वायदा भी किया गया। रामराव ने जोर दिया कि वे राजनीति में इसलिए आये ताकि आंध्र प्रदेश की जनता को कांग्रेस के भ्रष्ट और अक्षम शासन से मुक्ति दिला सकें।

1956 में आंध्र प्रदेश का गठन होने के बाद से लेकर राज्य में लगातार कांग्रेस की ही सरकार थी। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि रामराव अपनी स्वतंत्र पार्टी बनाने से पहले कांग्रेस से राज्यसभा का टिकट माँग रहे थे। लेकिन, तत्कालीन कांग्रेस के महामंत्री के रूप में राजीव गाँधी ने उन्हें यह टिकट देने से मना कर दिया। दूसरी तरफ़, राज्य के कांग्रेसी नेताओं के बारे में यह बात भी प्रचलित थी कि कांग्रेस हाईकमान के सामने वे अपनी स्वतंत्र और स्वायत्त हैसियत बनाने में नाकाम रहे हैं। असल में कांग्रेस हाईकमान अपनी मनमर्जी के हिसाब से राज्य के मुख्यमंत्री बदलता था। टिकट न पाने से आहत एन.टी. रामराव ने इसे आंध्र प्रदेश के स्वाभिमान से जोड़ा और 'तेलुगु बिड्डा' के रूप में उभरा। कम-से-कम आंध्र प्रदेश में तो रामराव का करिश्माई व्यक्तित्व प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी के व्यक्तित्व और लोकप्रियता को सीधी चुनौती देता ही था।



नंदमूर तारक रामराव (1923-1996)

रामराव की बढ़ती राजनीतिक सक्रियता से सचेत होकर ही कांग्रेस ने राज्य में जल्द विधानसभा चुनाव कराने का फैसला किया। राज्य में अगस्त, 1983 में चुनाव होने थे, लेकिन कांग्रेस सरकार ने जनवरी, 1983 में ही चुनाव करवाये। इसके पीछे रणनीति यह थी कि ऐसा करने से रामराव की नयी पार्टी को ज़मीनी स्तर पर अपना संगठन मज़बूत करने का मौक़ा नहीं मिलेगा। लेकिन रामराव ने जनता से सम्पर्क करने और अपने पार्टी का आधार मज़बूत करने के लिए नये तरीक़ों का प्रयोग किया। वे देश के पहले नेता थे जिन्होंने जनता से सम्पर्क करने के लिए रथ यात्रा का सहारा लिया। अपने चैतन्य रथम द्वारा उन्होंने राज्य में 75,000 किलोमीटर की यात्रा की। उनके स्वागत में जगह-जगह भीड़ उमड़ी और उन्होंने जनता के बीच अनगिनत भाषण दिये। रामराव ने तेलुगु लोगों के स्वाभिमान और आम लोगों तथा सरकार के बीच नज़दीकी संबंध क़ायम करने पर जोर दिया। इन चुनावों में देशम ने राज्य के एक छोटे दल संजय विचार मंच से गठजोड़ क़ायम किया। चुनावों में देशम गठजोड़ को पूर्ण बहुमत मिला। 294 सदस्यी विधानसभा में देशम को 199 और इसके सहयोगी दल को तीन सीटें मिली। इस तरह, जनवरी 1983 में रामराव राज्य के पहले ग़ैर कांग्रेसी मुख्यमंत्री बने।

बहरहाल, 15 अगस्त 1984 को आंध्र प्रदेश के राज्यपाल रामलाल ने रामराव को मुख्यमंत्री पद से हटा दिया। उस समय रामराव अपने दिल की सर्जरी करवाने अमेरिका गये थे। राज्यपाल ने उनकी जगह देशम के असंतुष्ट नेता

भास्कर राव को मुख्यमंत्री बनवा दिया जिनका दावा था कि उनके पास देशम के अधिकांश सदस्यों का समर्थन है। राव का यह दावा ग़लत था। वापस लौटने पर रामराव ने राज्यपाल के सामने अपने समर्थक विधायकों की परेड करवा दी। लेकिन राज्यपाल अपने निर्णय पर क़ायम रहे। राज्यपाल के निर्णय के खिलाफ़ रामराव ने एक बार फिर से चैतन्य रथम से अभियान शुरू कर दिया, उनके इस अभियान को ज़बरदस्त जन-समर्थन मिला। इसके साथ ही राष्ट्रीय स्तर पर अधिकतर ग़ैर-कांग्रेसी पार्टियों ने भी रामराव का समर्थन किया। जनता पार्टी, भारतीय जनता पार्टी, वाम मोर्चे और नैशनल काँग्रेस जैसे दलों ने राज्यपाल का विरोध करते हुए रामराव का समर्थन किया। आख़िरकार व्यापक विरोध के आगे झुकते हुए इंदिरा गाँधी ने रामलाल को हटा कर उनकी जगह शंकर दयाल शर्मा को आंध्र प्रदेश का राज्यपाल बनाया। शंकर दयाल शर्मा ने भास्कर राव को मुख्यमंत्री पद से हटाकर फिर से रामराव को मुख्यमंत्री बनाया।

अक्टूबर, 1984 में इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद हुए चुनावों में पूरे देश में कांग्रेस को सहानुभूति लहर का फ़ायदा मिला और ज़बरदस्त जीत हासिल हुई। लेकिन आंध्र प्रदेश में कांग्रेस को बहुत ज़्यादा सफलता नहीं मिली। यहाँ तेलुगु देशम पार्टी ही जीती। 1984 के लोकसभा चुनावों के बाद तेलुगु देशम पार्टी लोकसभा में मुख्य विपक्षी दल बनी। यह भारत के संसदीय लोकतंत्र के इतिहास में एक अनूठी घटना थी, जब एक क्षेत्रीय दल मुख्य विपक्षी दल बना। लोकसभा चुनावों की जीत से उत्साहित होकर एन.टी. रामराव ने विधान सभा भंग कराकर नये चुनाव कराने का फैसला किया। इन चुनावों में भी देशम को अच्छी-खासी सफलता मिली। 294 सदस्यीय विधानसभा में इसे 208 सीटों पर जीत मिली। इस बार रामराव ने मुख्यमंत्री के रूप में पाँच साल का अपना कार्यकाल पूरा किया। लेकिन दिसम्बर, 1989 में हुए चुनावों में सत्ता विरोधी रुझान के कारण देशम को हार का सामना करना पड़ा। खुद रामराव एक जगह से विधानसभा चुनाव हार गये। लेकिन इस दौर में रामराव ने राष्ट्रीय राजनीति में ग़ैर-कांग्रेसी दलों को एक मंच पर लाने की पुरज़ोर कोशिश की। वे विपक्षी दलों की गोष्ठियों के मुख्य प्रायोजक के तौर पर उभरे। इसी राजनीति के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय मोर्चा गठित हुआ जिसने 1989 के लोकसभा चुनावों के बाद केंद्र में सरकार भी बनायी। यद्यपि राष्ट्रीय मोर्चे का प्रयोग सफल नहीं हुआ और विश्वनाथ प्रताप सिंह सिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार एक साल के भीतर ही गिर गयी, लेकिन राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार के पतन के बावजूद रामराव ग़ैर-कांग्रेसी विकल्प के लिए काम करते रहे।

दिसम्बर, 1994 में आंध्र प्रदेश विधानसभा के चुनावों में देशम ने वाम दलों के साथ गठजोड़ क़ायम किया। इन

चुनावों में रामराव ने जनता की बुनियादी ज़रूरतों से जुड़े मद्दों पर जोर दिया। उन्होंने दो रुपये किलो चावल देने और शराबबंदी का वायदा किया। इन चुनावों में देशम और वाम दलों के गठजोड़ को ज़बरदस्त जीत मिली। उन्हें 294 सदस्यीय विधानसभा में कुल 250 सीटों पर जीत मिली। रामराव फिर से मुख्यमंत्री बने। लेकिन सिर्फ़ नौ महीने बाद ही उनके दामाद एन. चंद्रबाबू नायडू ने सरकार और पार्टी में उनका तख़्ता पलट दिया। नायडू खुद पार्टी अध्यक्ष और मुख्यमंत्री बन गये। अधिकांश देशम विधायकों ने नायडू का समर्थन किया। नायडू ने तर्क दिया कि उन्हें यह क्रम उठाने पर इसलिए मजबूर होना पड़ा क्योंकि रामराव की दूसरी पत्नी लक्ष्मी पार्वती का पार्टी में हस्तक्षेप बहुत ज़्यादा बढ़ गया था। रामराव ने इस तख़्ता पलट का प्रतिरोध करने की कोशिश की पर वक्रत ने उनका साथ नहीं दिया। 18 जनवरी, 1996 को दिल का दौरा पड़ने से उनकी मौत हो गयी। इस तरह नायडू तेलुगु देशम के अविवादित नेता बन गये और रामराव की पूरी विरासत उन्हीं के हाथ लगी।

मुख्यमंत्री के रूप में नायडू ने नव-उदारतावादी नीतियों को आगे बढ़ाया। उन्होंने राज्य में पूँजी निवेश बढ़ाने और सब्सिडी हटाने पर जोर दिया। सीएनएन और टाइम जैसे अमेरिका मीडिया ने नायडू की कार्यशैली की ज़बरदस्त सराहना की और उन्हें आर्थिक सुधारों के आदर्श चेहरे के रूप में पेश किया। जहाँ मुख्यमंत्री के रूप में नायडू की कार्यशैली को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सराहना मिली, वहीं 1996 के लोकसभा चुनावों के बाद राष्ट्रीय राजनीति में भी उनकी साख और सक्रियता बढ़ी। संयुक्त मोर्चे की सरकारों में देशम शामिल हुई और नायडू संयुक्त मोर्चे के समन्वयक बने। लेकिन 1999 आते-आते नायडू ने भाजपा के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन का दामन थाम लिया। 1999 के राज्य विधानसभा चुनावों में देशम को 185 सीटों के साथ पूर्ण बहुमत मिला। वहीं लोकसभा चुनावों में कुल 42 सीटों में से इसे 29 सीटों पर जीत मिली, जबकि उसकी सहयोगी भाजपा को आठ सीटें मिलीं।

नायडू की इन कामयाबियों के बावजूद उनके राज्य में गरीब जनता की स्थिति लगातार ख़राब होती गयी। नव-उदारतावादी नीतियों और प्राकृतिक संसाधनों को बड़ी कम्पनियों के हाथों में सौंपे जाने की नीति के कारण राज्य के एजेंसी एरिया (जंगली और पहाड़ी क्षेत्र) में सक्रिय माओवादियों ने भी नायडू का ज़बरदस्त विरोध किया। उन्होंने 2003 में नायडू पर जानलेवा हमला भी किया गया, जिसमें वे बाल-बाल बच गये। दूसरी ओर, कांग्रेस नेता वाई.एस. राजशेखर रेड्डी ने पूरे राज्य का दौरा कर किसानों और गरीबों के मुद्दों को उठाया। उन्होंने नायडू पर यह आरोप लगाया कि वे सिर्फ़ बड़े उद्यमियों और कुछ शहरों के विकास की ओर

ही ध्यान दे रहे हैं। असल में, विपक्ष के तीखे अभियान और नायडू द्वारा ग्रामीण आंध्र प्रदेश की उपेक्षा के कारण तेलुगु देशम पार्टी को 2004 के विधानसभा चुनावों में करारी हार का सामना करना पड़ा। इसे सिर्फ़ 49 सीटों पर ही जीत मिली। इसके बाद तेलुगु देशम पार्टी ने फिर से खुद को गरीबों के मुद्दों से जोड़ने की कोशिश की। इसने केंद्र की राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन और भाजपा से नाता तोड़कर राज्य के मुसलिम मतदाताओं को अपनी ओर आकर्षित करने की कोशिश भी की। इस कारण 2009 के विधानसभा चुनावों में इसकी स्थिति में सुधार हुआ। इसे कुल 90 सीटों पर जीत मिली, लेकिन वह कांग्रेस को सत्ता से बाहर नहीं कर पायी।

तेलुगु देशम पार्टी एक ऐसे क्षेत्रीय दल का प्रतिनिधित्व करती है, जिसने राष्ट्रीय स्तर पर एक वैकल्पिक राजनीति बनाने की पुरजोर कोशिश की। लेकिन एन. टी. रामराव से चंद्रबाबू नायडू के दौर तक देशम की राजनीति में कुछ बदलावों को रेखांकित किया जा सकता है। मसलन, रामराव ने गरीब समर्थक लोकलुभावनवादी राजनीति को बढ़ावा दिया, वहीं नायडू ने आर्थिक सुधारों और नव-उदारतावादी नीतियों का सहारा लिया। सत्ता से बाहर होने के बाद नायडू ने फिर से गरीबों के मुद्दों से खुद को जोड़ने का प्रयास किया है, लेकिन उन्हें इसका पर्याप्त फ़ायदा नहीं हुआ है। दूसरे, रामराव ने भाजपा को समर्थन देने से परहेज किया। कांग्रेस का विरोध करने के बावजूद उनका मुख्य जोर तीसरे मोर्चे की राजनीति पर रहा। लेकिन चंद्रबाबू नायडू ने भाजपा की सरकार का समर्थन किया। 2004 में राजग की पराजय के बाद ही उन्होंने उससे अपना नाता तोड़ा। तीसरे, अधिकांश क्षेत्रीय दलों की तरह ही देशम भी परिवारवाद से ग्रस्त रही है। लेकिन यह ज़रूर है कि इसका परिवारवाद द्रमुक या शिवसेना जितना संकुचित नहीं है। इस पार्टी में ज़मीनी स्तर से जुड़े कार्यकर्ताओं को भी महत्त्व दिया गया है।

आजकल तेलुगु देशम पार्टी आंध्र प्रदेश में मुख्य विपक्षी दल है। लेकिन इसे तेलंगाणा क्षेत्र में तेलंगाना क्षेत्रीय समिति और राज्य के दूसरे भागों में राजशेखर रेड्डी के परिजनों द्वारा गठित पार्टी वाईएसआर कांग्रेस से ज़बरदस्त चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। अर्थात् अब गारंटी से नहीं का जा सकता है कि आंध्र की राजनीति में कांग्रेस और तेलुगु देशम पार्टी ही दो मुख्य खिलाड़ी हैं।

देखें : कांग्रेस 'प्रणाली', गैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, भारत में गठजोड़ राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारत में मतदान-व्यवहार-1, 2, 3, 4, 5 और 6, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिरोमणि अकाली दल, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़।

संदर्भ

1. कांचा आयलैया (1992), 'आंध्र प्रदेशेज्ज एंटी-लिकर मूवमेंट', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 27, अंक 45.
2. के. श्रीवांशुलु और प्रकाश सारंगी (1999), 'पॉलिटिकल रिअलाइंनमेंट्स इन पोस्ट-एनटीआर आंध्र प्रदेश', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 34, अंक 34/35.
3. अतुल कोहली (1988), 'द एनटीआर फ़ेनोमेना ऑफ़ आंध्र प्रदेश : पॉलिटिकल चेंज इन अ साउथ एशियन स्टेट', *एशियन सर्वे*, खण्ड 28, अंक 10.
4. के. सी. सूरी (2004), 'आंध्र प्रदेश : फ़ॉल ऑफ़ द सीईओ इन ऐरीना ऑफ़ डेमोक्रेसी', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 39, अंक 51.

— कमल नयन चौबे

तृतीय विश्व

(Third World)

तृतीय विश्व या तीसरी दुनिया की अवधारणा शीतयुद्धीन राजनीति की देन है। इसके मुताबिक अमेरिकी केंद्र वाली पहली दुनिया अर्थात् पूँजीवादी विकसित देश और सोवियत केंद्र वाली दूसरी दुनिया यानी समाजवादी खेमे से खुद को अलग पेश करने वाले एशिया, अफ्रीका और लीतीनी अमेरिका के विकासशील, अल्पविकसित और गरीब देशों की शिनाख्त तीसरी दुनिया के रूप में की गयी थी। फ्रांसीसी जनसंख्याविद्, मानवशास्त्री और इतिहासकार अल्फ्रेड साँवी ने 14 अगस्त, 1952 में एक पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख में पहली बार 'थर्ड वर्ल्ड' अभिव्यक्ति का प्रयोग फ्रांसीसी क्रांति के दौरान उभरे थर्ड एस्तात के तर्ज पर किया था। थर्ड एस्तात का मतलब था जनसाधारण और उसी लिहाज से साँवी ने लिखा था कि थर्ड एस्तात की तरह थर्ड वर्ल्ड की हस्ती भी नाकूछ है पर वह कुछ होना जरूर चाहती है। साँवी का इशारा मध्य-पूर्व, दक्षिण एशिया, मध्य और दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका और ओसियानिया के देशों की तरफ था। इसके बाद 1955 में हुए बांदुंग सम्मेलन में गुटनिरपेक्षता सूत्रबद्ध हुई और तृतीय विश्व जल्दी ही नव-वामपंथियों का प्रिय विचार बन गया। इस अवधारणा के रैडिकल वामपंथी पहलुओं को उस समय और उछाल मिला जब माओ स्ते-तुंग ने 22 फ़रवरी, 1974 को जाम्बिया के राष्ट्रपति कैनेथ कोंडा की मौजूदगी में 'तीन दुनिया का सिद्धांत' सूत्रबद्ध करके चीन को तीसरी दुनिया का देश घोषित कर दिया, हालाँकि चीन ने खुद को गुटनिरपेक्ष देशों के दायरे से अलग

रखा हुआ था। माओ ने कहा कि 'अमेरिका और सोवियत संघ पहले विश्व की श्रेणी में आता है। जापान, युरोप के विकसित देश, ऑस्ट्रेलिया और कनाडा दूसरे विश्व हैं। और, हम तीसरी दुनिया हैं।'

बांदुंग काफ़्रेस के बाद ही तृतीय विश्व के विचारधारात्मक आयाम विकसित होने लगे थे। फ्रेंज फ़ानो, अहमद बेन बेला, गमाल अब्दल नासिर, आंद्रे गुंदर फ्रेंक, समीर अमीन और साइमन मैली तृतीय विश्व आंदोलन की आवाज़ बन कर उभरे। इस राजनीति ने पैन-अफ्रीकनिज़म, पैन-अरबिज़म, माओवाद, पैन-स्लाविज़म, अफ्रीकी समाजवाद, अरब समाजवाद और कम्युनिज़म के साथ अपने रिश्ते बनाये। 1968 के पेरिस में छात्रों और युवाओं के विद्रोह के विफल होने के बाद नव-वामपंथी समूहों ने खुद को तृतीय विश्ववाद के साथ जोड़ लिया। *मंथली रिव्यू* जैसी पत्रिका उसकी प्रमुख प्रवक्ता के रूप में उभरी। माओ की उद्घोषणा के अलावा फिलिस्तीनी मुक्ति संग्राम और अफ्रीकी नैशनल कांग्रेस का रंगभेद विरोधी संघर्ष तृतीय विश्ववाद की प्रमुख अभिव्यक्तियों को रूप में देखा गया। भूमण्डलीकरण की परिघटना के बाद उसके प्रतिरोध में गठित हुए वर्ल्ड सोशल फ़ोरम को भी तृतीय विश्ववाद की ही एक अभिव्यक्ति माना जाता है।

बांदुंग सम्मेलन में बनी सहमति के फलस्वरूप 1961 में गुटनिरपेक्ष देशों के आंदोलन की स्थापना हुई। इस आंदोलन के ज्यादातर सदस्य देशों को द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद चली विनिवेशीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप राजनीतिक स्वतंत्रता और सम्प्रभुता मिली थी। इसके पीछे भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू, इंडोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्णो, मिस्र के राष्ट्रपति नासिर और अफ्रीका के नव-स्वतंत्र देशों के नेता थे। इन नेताओं की मान्यता थी कि उनके और उन जैसे देशों का हित साधन तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में तभी हो सकता है जब वे अमेरिकी और सोवियत खेमे में से किसी से न जुड़ें। उपनिवेशवाद से छुटकारा पाने के बाद ये राष्ट्र नव-उपनिवेशवाद के फेर में नहीं फँसना चाहते थे। यह दूसरी बात है कि ऐसा लक्ष्य बनाना आसान था, पर विश्व-प्रभुत्व की होड़ से बचते हुए उसे धरती पर उतारना बहुत मुश्किल। खास तौर से तब जब ऐसा सोचने वाले देशों की अंतर्राष्ट्रीय मंच पर कोई साझा आवाज़ न हो। गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने यही कमी पूरी की।

तृतीय विश्व के विचार ने अकादमीशियनों, खास कर वैकासिक अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों को आर्थिक विकास और अल्पविकास के मुद्दों पर सैद्धांतिक और नीतिगत काम करने के लिए प्रोत्साहित किया। इससे एक तरह के वैकल्पिक चिंतन की सम्भावना बनी, वरना उस समय गरीब देशों के विकास की समस्याओं के हल को अमेरिका और पश्चिमी

युरोप के देशों की खुशहाली के आईने में तलाश करने का चलन था।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन के कारण जिस तृतीय विश्ववाद का उभार हुआ, उसने दोनों महाशक्तियों की विश्व-प्रभुत्व की राजनीति के सामने एक नया कार्यभार प्रस्तुत कर दिया। उनकी विदेश नीतियों को अब निर्गुट देशों की विश्वास जीतने की कोशिश भी करनी थी। उन्हें दिखाना था कि वे विकासशील विश्व के लिए अपने प्रतिद्वंद्वी से ज्यादा लाभकारी तजवीजें पेश कर सकते हैं। सोवियत शब्दावली अपने वामपंथी आडम्बर के कारण इस मक्रसद में अमेरिका के मुकाबले ज्यादा कामयाब हुई। इसका एक कारण यह भी था कि सोवियत प्रौद्योगिकी सहायता और अन्य आर्थिक सहायता का चरित्र पूँजीवादी देशों के विपरीत कहीं कम दोहनकारी प्रतीत होता था। कुल मिला कर तृतीय विश्ववाद जल्दी ही सोवियत रुझान दिखाने लगा। गुटनिरपेक्ष देशों के प्रमुख सदस्यों ने सोवियत सहायता लेने और उसके साथ संधियाँ वगैरह करने में अमेरिकी प्रस्तावों को मानने की तुलना में कम हिचक का प्रदर्शन किया। सोवियत संघ की इस कामयाबी को सत्तर के दशक में करारा झटका लगा जब चीन के अलग हो जाने से कम्युनिस्ट खेमे में फूट पड़ गयी। इस घटनाक्रम में अमेरिकी विदेश मंत्री हेनरी किसिंजर की चीन जा कर माओ से मुलाकात की खास भूमिका थी। इसी के बाद माओ ने न केवल तीन दुनिया के सिद्धांत का सूत्रीकरण किया बल्कि सोवियत संघ को विश्व-शांति के लिए अमेरिका से ज्यादा बड़ा खतरा करार दिया। माओ ने अपने पूर्व-मित्र सोवियत संघ की सामाजिक साम्राज्यवादी कह कर भर्त्सना की। इसी के बाद तृतीय विश्ववाद व्यावहारिक रूप से एक पेचीदा क्रिस्म की राजनीति में फँस गया। सोवियत संघ चाहता था कि अमेरिका के खिलाफ द्वितीय विश्व और तीसरे विश्व का मोर्चा बनाया जाए। चीन की कोशिश थी कि पेइचिंग को केंद्र बना कर तीसरी दुनिया की राजनीति चले। उसे अपने प्रयासों को अमेरिकी और पूँजीवादी द्वितीय विश्व के देशों का समर्थन मिलने की उम्मीद थी।

अस्सी के दशक में इस स्थिति में एक गुणात्मक परिवर्तन तब आता दिखा जब संयुक्त राष्ट्र की सदस्य संख्या 51 से बढ़ते-बढ़ते 156 तक पहुँच गयी। यह विनिवेशीकरण की जारी प्रक्रिया का संचित परिणाम था। नतीजा यह निकला कि संयुक्त राष्ट्र में तीसरी दुनिया का पलड़ा भारी हो गया। अमेरिका ने इस परिस्थिति को भाँपते हुए दो क्रम उठाए। उसने संयुक्त राष्ट्र और उसके संगठनों के प्रभाव को घटाने वाली नीतियाँ अख्तियार कीं, और दूसरी तरफ सोवियत महाशक्ति के खिलाफ शीत युद्ध में तेजी लाते हुए 'स्टार वार' (अंतरिक्ष युद्ध) की सामरिक प्रौद्योगिकी लाने का नजारा पेश किया। अस्सी के दशक में चली हथियारों की भीषण होड़ ने

सोवियत कम्युनिज्म के कमजोर आर्थिक आधार को इंगित किया। नब्बे के दशक की शुरुआत में हुआ सोवियत संघ का बिखराव और शीत-युद्ध का अचानक खात्मा इसी प्रतियोगिता का अनपेक्षित परिणाम था।

सवाल यह है कि शीत-युद्ध खत्म होने, भूमण्डलीकरण की परिघटना के उभार और एकध्रुवीय विश्व के यथार्थ की रोशनी में तृतीय विश्ववाद की अब क्या उपयोगिता बची है? इस सिलसिले में अर्थशास्त्री पीटर बाउर का एक प्रेक्षण उल्लेखनीय है। उन्होंने पूछा है कि जब किसी देश को तीसरे विश्व का सदस्य कहा जाता है, तो उसके पीछे कौन से राजनीतिक और आर्थिक मानक होते हैं? जाहिर है कि इन मानकों को परिभाषित करने के लिए जरूरी शीत-युद्ध की परिस्थिति इस समय मौजूद नहीं है। बाउर का कहना है कि इंडोनेशिया से अफ़गानिस्तान तक खुद को तीसरी दुनिया कहने वाले देशों में बेहद पिछड़ी से लेकर अत्याधुनिक तक तरह-तरह की अर्थव्यवस्थाएँ काम कर रही हैं। इसी तरह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में भी ये देश विकसित विश्व से भी जुड़े हुए हैं, विश्व व्यापार संगठन जैसे बाजारवादी समझे जाने वाले संगठनों के भी सदस्य हैं और साथ में समाजवादी शब्दाडम्बर का भी प्रयोग करते हैं। बाउर ने यह भी कहा कि इन देशों में एक ही समानता है कि उन्हें बिना किसी अपवाद के पश्चिमी आर्थिक सहायता मिलती है।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निरस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट कानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, युरोपीय यूनियन, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, साम्राज्यवाद, शक्ति-संतुलन, शांति, शांतिवाद, शस्त्र-नियंत्रण, हथियारों की होड़।

संदर्भ

1. आश नारायण राय (2000), *द थर्ड वर्ल्ड इन द एज ऑफ ग्लोबलाइजेशन : रेक्विम ऑर न्यू एजेंडा?*, जेड प्रेस, लंदन.
2. आरुतरो एस्कोबार (1995), *एनकरेजिंग डिवेलपमेंट : मेकिंग ऐंड अनमेकिंग ऑफ थर्ड वर्ल्ड*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.
3. गैब्रियल कोल्को (1997), *कनफ्रंटिंग द थर्ड वर्ल्ड : यूनाइटेड स्टेट्स फारेन पॉलिसी, 1945-1980*, वेस्टव्यू प्रेस, बोल्डर, सीओ.
4. आरिफ़ डिरलिक (1997), *द पोस्टकोलोनियल ऑरा : थर्ड वर्ल्ड क्रिटीसिज्म इन द एज ऑफ ग्लोबल कैपिटलिज्म*, वेस्टव्यू प्रेस, बोल्डर, सीओ.

— अभय कुमार दुबे